M.A. Semester-IV
Philosophy DSE-B
Unit-I

Prof. Ragini Kumari
Prof. & Head
P.G. Centre of Philosophy
Maharaja College, Ara

Hindu View and Buddhistic View of Soul
(Part-I)

एक ओर भारत भूमि पर विकसित हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में 'आत्मा' के सम्बन्ध में दो सर्वथा विरोधी विचार धाराओं का पोषण तथा प्रवर्तन हुआ है। हिन्दू धर्म जहाँ 'आत्मा' की सत्ता में विश्वास व्यक्त करते हुए अपनी मान्यताओं के अन्तर्गत "आत्मवाद" का विकास करता है, वहीं बौद्ध धर्म इसके विपरीत 'अनात्मवाद' के आधार पर आत्मा के सम्बन्ध में सर्वथा निषेधात्मक विचार का पोषण करता है। आत्मा सम्बन्धी इस भावात्मक तथा निषेधात्मक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में हम अपना अध्ययन निम्नवत् प्रस्तुत करेंगे—

हिन्दू धर्म की आत्मा अवधारणा

हिन्दू धर्म की आत्मा सम्बन्धी अवधारणा उसकी सम्पूर्ण मान्यताओं का एक बुनियादी आधार स्तम्भ है। उपनिषद् तथा गीता के विचारों के आधार पर विकसित इस धर्म में आत्मा को परमसत् ब्रह्म का तद्रूप मानकर इस धर्म ने आत्मा सम्बन्धी अवधारणा का एक सर्वथा विलक्षण तथा अनूठा रूप प्रदान किया है। यहाँ एक बात महत्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दू धर्म

का आत्मा-विचार किसी काल अथवा स्थान विशेष के अन्तर्गत किसी व्यक्ति-विशेष प्रणीत विचार नहीं है बल्कि यह विभिन्न देश अथवा काल में अनेक मनुष्यों द्वारा विकसित विचार है।

हिन्दू धर्म की मान्यता में आत्मा को सत्ता को स्वीकार करते हुए, आत्मवाद के पोषण में इसे ईश्वरत्व से युक्त सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन अविद्या के आवरण में पड़कर यह आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को मूल शरीर रूप को धारण कर लेती है। शरीर को यह आत्मा ही हिन्दुओं में जीवात्मा की संज्ञा से अभिहित हुई है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में हमें आत्मा के सम्बन्ध में एक व्यापक अवधारणा प्राप्त होती है। यह धर्म अपने आत्म-दर्शन में जीव को आत्मा के रूप में वैयक्तिक तथा परम-आत्मा की भिन्नता को प्रश्रय प्रदान कर परम आत्मा को परमार्थसत् का स्थान प्रदान करता है। इस क्रम में जीव से हिन्दू धर्म ऐसे वैयक्तिक आत्मा का बोध करता है, जो अनन्त ज्ञान के अभाव में कर्म-बन्धन से ग्रसित कर्मफल का भोक्ता होता है। जीव का ही पुनर्जन्म होता है और यह पुनर्जन्म कर्मों के आधार पर होता है।

आत्मा के पुनर्जन्म की यह अवधारणा आत्मा की अमरता का प्रतिपादन करती है। वस्तुतः हिन्दू धर्म में आत्मा की अमरता को बलपूर्वक स्वीकार किया गया है। यहाँ आत्मा की व्याख्या में इसे एक ऐसी सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है, जो अमर, अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है। यह नित्य है, शाश्वत है, निरन्तरता, एकरूपता और अविच्छिन्नता, कार्यशीलता इसके लक्षण हैं।

गीता में इसी अमरता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है —

"इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते हैं, आग इसको जला नहीं सकती है, इसको पानी गला नहीं सकता है और वायु सुखा नहीं सकता है।" (गीता 2/25)

"यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है।
(गीता 2/20)

कर्म बन्धन से ग्रसित यह अमर आत्मा निरन्तर पुनर्जन्म धारण करती रहती है। गीता ने इसकी सुन्दर उपमामूलक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि —

"जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को धारण करती है।" (गीता 2/22)

यहाँ एक अन्य बात उल्लेखनीय है कि अपनी आत्मा सम्बन्धी अवधारणा के अन्तर्गत 'आत्मवाद' के पोषण के साथ-साथ हिन्दू धर्म अनेकात्मवाद का भी पोषण करता है, क्योंकि यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक शरीर में एक नित्य आत्मा का निवास होता है।

स्पष्ट है कि जितने शरीर अथवा जीव होंगे उतनी ही आत्माएँ होंगी।

अपने विचारों के विकास के अन्तर्गत हिन्दू धर्म में जीव के आत्म चेतना के विकास की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं —

(1) जाग्रतावस्था — जागृत अवस्था
आत्म चेतना के विकास की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में जीव को वैश्वानर आत्मा की प्रमाणिक संज्ञा प्रदान की गयी है। चेतना की इस अवस्था में जीव बाह्य इन्द्रियों के द्वारा शारीरिक विषयों को भोगता है। सांसारी विषयमात्र में अभिरुचि रखनेवालों की यही अवस्था पूर्ण तथा अन्तिम रूप में स्वीकृत होती है।

(2) स्वप्न अवस्था — चेतना के विकास की यह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में इसे "तैजस" का सम्बोधन प्राप्त हुआ है, जो मन द्वारा सूक्ष्म आन्तरिक विषयों को जानता है।

(3) सुषुप्ति अवस्था — चेतना के विकास की यह तीसरी अवस्था है, जिसमें इसे 'प्रज्ञा' का सम्बोधन प्राप्त हुआ है। इस में जीव एकरस, चैतन्य और आनन्द स्वरूप है जो आन्तर बाह्य किसी भी विषय को नहीं देखता।

(4) तुरीयावस्था — चेतना के विकास की यह चौथी और अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में इसे तुरीयावस्था की संज्ञा प्राप्त हुई है। जो न तो चेतन है और न अचेतन यह एक अद्वैत और विश्व चेतन है।
यहाँ उल्लेखनीय है कि हिन्दू धर्म में जीव को विभिन्न कोषों में स्वीकार किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार के पाँच कोषों का स्पष्ट तथा विस्तृत वर्णन

प्राप्त होता है —

(1) अन्नमय कोष
(2) प्राणमय कोष
(3) मनोमय कोष
(4) विज्ञानमय कोष
(5) आनन्दमय कोष

"आनन्दमय कोष" के अन्तर्गत जीव की पूर्ण अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में जीव ज्ञाता है और ज्ञेय के भेद से शून्य पूर्ण चैतन्य और आनन्द रूप में उपस्थित होता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म जीव की चेतना के विकास के आधार पर चरम आत्मा की स्थापना करता है। इसके अनुसार संसारी व्यक्ति प्रथम अवस्था से सन्तुष्टि प्राप्त कर उसे ही वास्तविक आत्मा के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति अन्तिम अवस्था (तुरीयावस्था) में आकर सम्भव होती है और जब तक इस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती — जिज्ञासु तथा बुद्धिशील व्यक्ति को संतुष्टि की प्राप्ति नहीं होती।

वस्तुतः हिन्दू धर्म के अनुसार तुरीयावस्था ही परम आत्मा है जहाँ तक इस आत्मा के स्वरूप का प्रश्न है हिन्दू धर्म में आत्मा को परमतत्व, स्वयंसिद्ध एवं ज्योति स्वरूप माना गया। याज्ञवल्क्य के शब्दों में आत्मा परम ज्ञाता है अतः वस्तु के रूप में उसका ज्ञान नहीं हो सकता। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य ने आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में कहा है —

"अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोतः मतोमन्ता अविज्ञातो विज्ञाता।"

वस्तुतः हिन्दू धर्म में इस आत्मा

को अद्वैत, सर्वातिशायी, अज्ञेय, अनुभवातीत, अचिंत्य अन्यारण्य आत्म चेतना का मूल तत्व, संसार का पूर्णरूप सदा शान्तमय सर्वदा आनन्दमय एकमात्र इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है।

— To be Continued —